वर्तमान संगीत शिक्षा की शिक्षण पक्तियां एवं तकनीकियां

मेरा दृढ़ मत है कि संगीत जीवन के लिये है, सिर्फ मनोरंजन के लिए नहीं। अपने आरम्भिक चरण से ही संगीत भावाभिव्यक्ति ही नहीं, आत्माभिव्यक्ति का भी सशक्त माध्यम रहा है। इसके माध्यम से हम सिर्फ अपने भावों को ही नहीं स्वयं को भी अभिव्यक्त कर पाते हैं। संगीत हमारे अन्दर एकाग्रता, शान्ति, प्रसन्नता, प्रेम, दूसरों की भावनाओं का आदर करना और मन तथा भारीर को स्वस्थ बनाने संबंधी सद्गुणों का विकास करता है..... मानवीय गुणों को विकसित करता है..... इसकी इन्हीं विशेषताओं से प्रभावित होकर राष्ट्रपिता महात्मा गॉधी ने एक बार कहा था कि 'संगीत और योग की शिक्षा बच्चों को प्राथमिक कक्षाओं से ही दी जानी चाहिए, इसका मैं समर्थन करता हूँ।' मैं भी इसका समर्थन करता हूँ। यद्पि, महात्मा गाँधी के इस सुझाव को उनके राजनीतिक उत्तराधिकारियों ने स्वीकार नहीं किया, तथापि संगीत और शिक्षा आरम्भिक चरण से ही एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं।

प्राचीन धार्मिक पौराणिक आख्यानों के अनुसार–संगीत के सृष्टा बह्मा जी से संगीत नामक अनुपम, मनोहारी और मुक्तिदायक कला की शिक्षा लेकर भरत और उनके सौ पुत्रों ने गंधर्वों, किन्नरों और अप्सराओं की सहायता से उसे शंकर के समक्ष प्रस्तुत किया। इन नाट्य प्रयोगों से आनन्दित शंकर ने अपने प्रिय और प्रमुख गण तंडु मुनि को आदेश दिया कि वह भरत और उनके साथियों को तांडव नृत्त की विधिवत शिक्षा दें। दूसरी ओर, पार्वती ने लास्य नृत्य का सृजन कर उसकी शिक्षा वाणासुर की पुत्री उषा को दी। भरत के सौ पुत्रों द्वारा नाट्य कला और तांडव नृत्य का ज्ञान पृथ्वीवासियों को मिला, तो उषा का विवाह जब कृष्ण के पौत्र अनिरूध से हुआ तो उषा के माध्यम से इस नृत्य कला की शिक्षा धरतीवासियों को मिली। इस प्रकार हम देखते हैं कि देवताओं की यह दिव्य कला एक दूसरे को शिक्षित और प्रशिक्षित करते हुए हम लोगों तक पहुंची है।

प्राचीन काल में गुरूकुलों में संगीत शिक्षा के अनेक प्रामाणिक उल्लेख मिलते हैं। उस समय 12 से 48 वर्ष तक के पाठ्यक्रम होते थे। शिक्षा पूर्ण करने के बाद संगीतार्थियों को संगीताचार्यों के समक्ष अपनी प्रस्तुति देनी होती थी। उतीर्ण होने पर उन्हें पगड़ी पहनाकर सम्मानपूर्वक उपाधि दी जाती थी।

तत्कालीन गुरूकुलों में जो शिक्षा प्रदान की जाती थी, उसे लेकर कुछ लोगों को यह भ्रम है कि वह एकल होती थी। जबकि, ऐसा नहीं है। तब भी सामूहिक शिक्षा पद्धति प्रचलित थी। अंतर सिर्फ इतना था कि शिष्यों की संख्या सीमित होती थी, जिससे गुरूओं के लिये हर शिष्य पर ध्यान दे पाना संभव होता था। शिष्य अगर निष्ठावान और गुरूभक्त होते थे तो गुरू भी उदार और निःस्वार्थी हुआ करते थे। आज ऐसे गुरू और शिष्य दोनों ही दुर्लभ प्रजाति के हो गये हैं।

समय बदला और सोने की चिड़ियां कहे जाने वाले इस देश पर विदेशी आक्रमणों का दौर शुरू हुआ। आक्रमणकारियो ने धन सम्पदा को लूटने के साथ–साथ सांस्कृतिक सम्पदा को भी नष्ट करने की पूरी कोशिशें की। जिसका नुकसान संगीत को भी उठाना पड़ा। मंदिर तोड़े जाने लगे। नालंदा और तक्षशिला जैसे वे संस्थान जहां संगीत की उच्चस्तरीय शिक्षा प्रदान की जाती थी .....ध्वंस होने लगे..... गुरूकुल नष्ट हो गये।

ऐसे समय में अनेक संगीतज्ञों ने विभिन्न राजाओं, नवाबों का आश्रय प्राप्त करके, संगीत कला को एक नया रूप, नयी दिशा दी। जहां के राजाओं ने इस संगीत कला को संरक्षण दिया, उनके नाम पर इन संगीतकारों ने नये घरानों की नींव रखते हुए अपने आश्रयदाताओं की रूचि के अनुसार अपनी कला में परिवर्तन किया। इसके साथ ही स्थान विशेष, वहां की बोली–चाली, रहन–सहन, जल–वायु आदि का भी इन कलाओं पर स्वाभाविक प्रभाव पड़ा। अतः अलग–अलग क्षेत्रों, प्रदेशों की सांगीतिक कलाओं में कई प्रकार के अन्तर दिखने लगे। अतः इनके हर रूप को स्थानीय नामों से संबोधित किया गया। तबले में दिल्ली, अजराड़ा, लखनऊ, फर्रूखाबाद, बनारस और पंजाब जैसे घरानें विकसित हुए तो गायन में ग्वालियर, आगरा, दिल्ली, जयपुर, रामपुर–सहसवान, भेंडी बजार आदि जैसे घरानें निर्मित हुए। कथक नृत्य में भी लखनऊ, जयपुर, बनारस और रायगढ़ जैसे घराने बनें। ध्रुवपद गायकी में शैलीगत अंतर को वाणी कहा गया तो तन्त्र वाद्यों में बाज।

घरानों का सबसे सबल पक्ष यह रहा कि हर नये घरानें के साथ एक नयी विशेषता जुड़ती थी। हर घराने के संगीतकार ने अपनी भौली के विकास के लिय अथक प्रयास और परिश्रम किया, और हर घरानें ने एक से बढ़कर एक महान् संगीतकार को जन्म दिया। तब जिस तरह अलग–अलग राजाओं में प्रतिद्वन्द्विता चलती थी उसी तरह अलग–अलग संगीतकारों में भी चलती थी। ये राजा–नवाब जब एक दूसरे के यहां जाते थे, अपने संगीतकारों को भी ले जाते थे। फिर, स्थानीय और आगन्तुक दोनों संगीतकारों की प्रस्तुतियां देखकर उनके ज्ञान, परिश्रम और सर्जनात्मकता का आकलन किया जाता था।

गोपाल नायक और अमीर खुसरो, बैजू बावरा और विजय जंगम,

बैजू बावरा और गोपाल लाल तथा बैजू बावरा और तानसेन के बीच हुई प्रतियोगितायें इतिहास के पन्नों में दर्ज हैं। लेकिन इन प्रतियोगिताओं का दौर तेरहवीं शताब्दीं से बींसवीं शताब्दीं के पूवार्ध तक चलता रहा।

घरानेदार संगीत शिक्षा पद्धति में अनेक गुण थे। फिर भी, इस पद्धति का पतन हुआ तो सिर्फ इसलिये कि अनेक गुरूओं, उस्तादों ने संगीत कला को अपनी जागीर समझ लिया। उन्होने अपने पुत्रों और दामादों के अलावा दूसरों को प्रायः ईमानदारी से नहीं सिखाया। वे गुरू भक्ति और निष्ठा के नाम पर शिष्यों की शोषण की हद तक कठिन परीक्षायें लिया करते थे। कुछ एक अपवादों को छोड़ दिया जाये तो तत्कालीन अनेक गुरूओं और उस्तादों ने अपने वंशजों के अलावा दूसरों को नहीं ही सिखाया। वे अपनी विद्या, अपनी कला, अपनी बंदिशें, रचनायें लेकर मर जाना पसंद करते थे, लेकिन किसी गैर को सिखाना नहीं। उनकी रचनायें उनके साथ ही खत्म हो जाये–यह स्वीकार था उन्हे। लेकिन, उनकी रचनायें किसी और के पास पहुँच जाये, यह बिल्कुल भी स्वीकार नहीं था। उन लोगों ने तालीम–ए–खासुल खास, तालीम–ए–खास और तालीम–ए–आम जैसी संगीत शिक्षा की तीन श्रेणियां भी बना ली थी। पं. भातखंडे जी की जीवनी पढ़ने से ज्ञात होता है कि बंदिशों का संग्रह करने के लिये उन्हें किन–किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। उ. अलाउद्दीन खाँ और दूसरे संगीतकारों के जीवन में झांकने से ज्ञात होता है कि संगीत की बुनियादी शिक्षा पाने के लिये उन्हें कितना संघर्ष करना पड़ा था।

इसीलिये संस्थागत संगीत शिक्षा की नींव पड़ी। संस्थागत संगीत शिक्षा का मुख्य उद्देश्य ही यह था कि इस दैवीय कला विद्या पर घरानेदार गुरूओं, उस्तादों की पकड़ कमजोर हो। उनके निर्मम पंजों से निकलकर यह कला आम जन तक, जन–जन तक पहुँचे।

हमारे कई संगीतकार, पंडित और उस्ताद इन संस्थाओं से जुड़े। लेकिन, यहाँ की सामूहिक शिक्षा को देखकर उन लोगों ने भुरू में ही घोषणा कर दी कि यहाँ से अच्छे संगीतकारों का निर्माण संभव नहीं है। क्योंकि यह गुरूमुखी विद्या है, इसमें सीना–ब–सीना तालीम दी जाती है। वे भूल गये कि प्राचीन काल में गुरूकुलों में भी सामूहिक शिक्षा की ही व्यवस्था थी। वे यह भी भूल गये कि संगीतर्षि पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर 1901 में लाहौर में स्थापित प्रथम गंधर्व महाविद्यालय में पं. विनायकराव पटवर्धन, पं. ओंकारनाथ ठाकुर, पं. नारायणराव व्यास और प्रो. वी. आर. देवधर जैसे अनेक महान् कलाकारों को प्रशिक्षित करके विद्यालयीन संगीत शिक्षा की सुदृढ़ नींव डाल चुके थे। पं. ओंकार नाथ ठाकुर, पं. विनायक राव पटवर्धन, पं. नारायणराव व्यास और प्रो. बी. आर. देवधर जैसे उनके शिष्यों ने भी उनके चरण चिन्हों का अनुसरण करते हुए संगीतार्थियों की नयी पीढ़ियां तैयार कीं। लेकिन... उसके बाद क्या हो गया?

आज ऐसी संस्थाओं की लाखों शाखायें देश–विदेश में हैं। प्रतिवर्ष लाखों लोग संगीत की परीक्षायें देते हैं। लेकिन, परिणाम भून्य!

गुरू शिष्य परम्परा अगर गुरूओं की स्वार्थ लोलुपता और संकीर्ण मानसिकता के कारण कमजोर हुई तो संस्थागत शिक्षा प्रणाली अपने नीति निर्माताओं के कारण आजादी के इतने वर्षों बाद भी कोई सुपरिणाम देने में असफल है। इस विषय में मेरी जब भी किसी से बात होती है, तुरंत एक प्रश्न पूछ लिया जाता है– बातें तो आपकी ठीक हैं... लेकिन यू.जी.सी. को कौन समझाये?
क्योंकि, वहां कोई समझने को तैयार ही नहीं है। क्योंकि, वहां कोई अच्छा संगीत विद्वान, संगीत मर्मज्ञ नहीं है।

महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों की स्थिति यह है कि उनके यहां प्रत्येक विषय में संगीतार्थियों की एक निश्चित संख्या होनी ही चाहिये। न होने की स्थिति में विभाग बंद हो जायेगा और अध्यापक बेरोजगार। इस समस्या का सामना करने के लिये उन संस्थाओं में नामांकन के लिये आने वाले हर किसी को प्रवेश दे दिया जाता है। ऐसी दशा में कई ऐसे लोगों को भी प्रवेश मिल जाता है– जो स्वेच्छा से संगीत नहीं सीखना चाहते। वे मजबूरीवश संगीत में दाखिला लेते हैं। क्योंकि, कम अंक के कारण उन्हें दूसरे विषयों में प्रवेश नहीं मिल पाता हैं।

अब, जो लोग पहले से ही पढ़ाई में कमजोर हैं। जिनकी संगीत में स्वाभाविक रूचि नहीं है। वे भला संगीत के क्षेत्र में आकर क्या कर लेंगें। ये बी.ए. में सरगम और अलंकार सीखना, या अपने वाद्य यंत्रों पर हाथ रखना सीखते हैं। फिर, जैसे तैसे एम.ए. कर लेते हैं। विभाग बन्द होने की दुहाई देकर स्वयं प्राध्यापक ही परीक्षक से अनुरोध करते हैं उन्हें उत्तीर्ण कर देने का। 4–5 साल में एम.ए. कर लेने के बाद ये कहीं भी अध्यापक बनने के अधिकारी हो जाते हैं। उसके बाद थोड़ा बहुत पढ़ लिखकर एम. फिल्. और पी. एच. डी. हो जाते हैं ये लोग। नतीजा यह होता है कि संगीत के ये डॉक्टर लोगों को बीमार करने के अलावा और कुछ भी नहीं कर पाते हैं।

मेरा व्यक्तिगत सुझाव यह है कि स्नातक यानी बी.ए. स्तर की कक्षाओं का संगीत द्वार सबके लिये खोल देना उचित नहीं है। बी.ए. की संगीत कक्षा में उसी छात्र–छात्रा को प्रवेश मिलना चाहिये– जिसे संगीत का कम से कम उतना ज्ञान जरूर हो जितना हिन्दी, गणित, अंग्रेजी आदि विषयों का होता है। अर्थात् बी.ए. में प्रवेश लेने के लिये यह आवश्यक हो कि वह पिछले 7–8 वर्षो से संगीत सीख रहा हो। ताकि, एम.ए. करते–करते वह सचमुच अपनी कला विद्या का मास्टर हो जाये और एम.फिल. तथा पी.एच.डी. करते समय संगीत के दार्शनिक तत्वों की मीमांसा कर सके।

इसी के साथ एक सुझाव और है, मेरा कि शास्त्र और प्रयोग के बीच की दूरी को कम करना चाहिये। एम.फिल्. और पी.एच.डी. करने वालों की परीक्षायें दोनों विषयों में हों। वे शोध प्रबन्ध भी लिखें और अपने कियात्मक ज्ञान का परिचय भी दें। इससे संगीत कला, एकांगी, एक पक्षीय बनने से बचेगा।

महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों में नियुक्त अध्यापकों, प्राध्यापकों में भी यह गुण होना चाहिये कि वे अपने शिष्यों के समक्ष अपना और अपनी कला का आदर्श रूप प्रस्तुत कर सकें। अगर एक ही अध्यापक में कियात्मक और शास्त्र सिखाने तथा पढ़ाने का गुण

समुचित मात्रा में न हो तो दो अलग अध्यापकों की व्यवस्था हो। लेकिन, जो अध्यापक जिस विषय को पढाता है, उस अध्यापक में उसे पढ़ाने की पूरी क्षमता होनी चाहिये। इसलिये आवश्यकता पड़ने पर क्रियात्मक अर्थात् प्रायोगिक पक्ष के अध्यापकों के लिये डिग्री में छूट का प्रावधान भी होना चाहिये। क्योंकि कोई अच्छा गायक, वादक, नर्तक पी.एच.डी. और डी.लिट्. भी हो ही यह कतई जरूरी नहीं है।

इन संस्थाओं के सांगीतिक कक्षाओं की अवधि भी एक बड़ी समस्या है। अन्य विषयों की तरह संगीत की कक्षायें 45 मिनट या एक घंटे में संपन्न होने से शिक्षा का काम प्रायः अधूरा रह जाता है। वाद्य यंत्रों के मिलाने में, छात्र–छात्राओं, संगतिकारों के आने–जाने में काफी समय लग जाता है। संगीत की शिक्षा दूसरे विषयों की तरह नहीं होती कि कक्षा में गये... पृष्ठ पलटे... और नया अध्याय भुरू हो गया। मेरी व्यक्तिगत राय यह है कि इन कक्षाओं की अवधि कम से कम डेढ़ घंटे की तो होनी ही चाहिये।
छात्र–छात्राओं की संख्या भी एक आव यक पक्ष है। कक्षा में छात्र–छात्राओं की संख्या इतनी ही होनी चाहिये कि अध्यापक के लिये सब पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान दे पाना संभव हो। क्योंकि, एक भीड़ को श्रेष्ठ संगीतकार के रूप में नहीं प्रशिक्षित किया जा सकता है। इसलिये, संख्या की अपेक्षा गुणवत्ता पर ध्यान देना ज्यादा उचित होगा।

मेरे अपने विचार से स्नातक अर्थात् बी.ए. तक के संगीत शिक्षार्थियों को पढ़ाई की ही भांति सारे विषयों का ज्ञान होना चाहिये। जैसे पढ़ाई के विद्यार्थी, हिन्दी, अंग्रेजी, समाज शास्त्र, विज्ञान आदि की पढ़ाई करते हैं, उसी तरह ये भी ध्रुवपद, खयाल, ठुमरी, लोक संगीत आदि सब कुछ सीखें बी.ए. तक। लेकिन, बी.ए. करने के बाद, एम.ए. में पहुँचने पर इन्हें यह निर्णय लेने का अधिकार होना चाहिये कि एम.ए. ये ध्रुवपद धमार में करेंगे, ठुमरी–दादरा में करेंगें या गज़ल अथवा खयाल में। स्वरविधा के संगीतर्थियों के लिये तबले का आधारभूत ज्ञान और तबले के विधार्थियों के लिए गायन का आधारभूत ज्ञान आवश्यक ज्ञान हो। इस लिए छोटा ही सही, लेकिन तबले का एक विभाग सर्वत्र होना चाहिए।

एक सुझाव और है। संगीत को रोजगारोन्मुख बनाया जाये। एक पुरानी कहावत है न पढ़ते तो खाते सौ तरह कमाकर। वे मारे गये और तालीम पाकर। लार्ड मैकाले ने भारतीय शिक्षा नीति में बदलाव करते हुए यह प्रयास सफलतापूर्वक किया कि यहां के लोग पढ़ लिखकर ज्ञानवान नहीं, क्लर्क बनें। और अपनी पूरी जिंदगी छोटी मोटी नौकरियों में निकाल दें। कमोवेश यही स्थिति संगीत में भी है।

संगीत में रोजगार की ढ़ेरों संभावनायें हैं। संगीत सीखकर अच्छा, सफल मंचीय कलाकार बना जा सकता है... श्रेष्ठ अध्यापक बना जा सकता है... लेखक समीक्षक बना जा सकता है... संगीत निर्देशक बना जा सकता है... रेकार्डिस्ट बना जा सकता है... आकाशवाणी, दूरदर्शन अथवा दूसरे संचार माध्यमों में अधिकारी बना जा सकता है। म्यूजिक अथवा कल्चरल कोटे के माध्यम से बैंक, रेलवे या इसी तरह के दूसरे विभागों में भी अच्छी नौकरी पाई जा सकती हैं। इसलिये क्या ही बेहतर हो, अगर बी.ए. के बाद संगीतार्थियों से पूछा जाये कि वे किस क्षेत्र, किस दि ा में जाना चाहते हैं? और फिर उन्हें अपने मनचाहे विषय में एम.ए. करने की समुचित सुविधाये उपलब्ध कराई जायें। ध्यान दीजिये, मेरी जानकारी के अनुसार ऐसी सुविधायें किसी संस्थान की ओर से संगीतार्थियों को उपलब्ध कराने की व्यवस्था संभवतः अभी तक नहीं हैं।

अब, अगर किसी को रेकार्डिस्ट या संगीत समीक्षक बनना है तो वह एक–एक तान, एक–एक पलटों का रियाज़ हजार बार क्यों करे? संगीत समीक्षक के लिये तो राग, ताल, सुर, लय की जानकारी और भाषा पर पकड़ ही पर्याप्त है। संगीत के साथ–साथ बल्कि उसे इस बात का भी ज्ञान होना चाहिये कि कम–से–कम शब्दों में अधिक से अधिक बात वह कैसे लिख सकता है? अपने विचारों को प्रभावशाली ढ़ंग से कैसे व्यक्त कर सकता है? इसी तरह संगीत निर्देशक को शब्द और स्वर के रिश्ते का ज्ञान होना आव यक है। किन भावों को, किन स्वर लहरियों या रागों में पिरोना बेहतर होगा। यह जानना जरूरी है उसके लिये। उसे यह जानना होगा कि किस प्रकार के भावों को किन वाद्ययंत्रों के माध्यम से बेहतर ढंग से अभिव्यक्त किया जा सकता है? और, उसे इसकी जानकारी होनी चाहिये कि किस लय या ताल के माध्यम से किस रस की निष्पति की जा सकती है?

इसलिये मुझे बार–बार यह लगता है कि संगीत के लिये एक सुविचारित शिक्षा नीति का होना परम आवश्यक है। यह बहुत दुखद तथ्य है कि आजादी के इतने वर्षो बाद भी हमारे यहां संगीत शिक्षा की कोई नीति नहीं है। जबकि, भारत रत्न से अलंकृत संगीतज्ञ भी हमारे यहां हैं। वे क्यों नहीं इस विषय पर अपना पक्ष जोरदार ढ़ंग से रखते हैं, और क्यों नहीं अधिकारी गण उनकी बातों को ध्यान से सुनते हैं।

मुझे दो संगीतकारों के कथन एक साथ याद आ रहें हैं। लेकिन, दोनों को बारी–बारी से आपके समक्ष रखता हूँ। संस्थागत संगीत शिक्षा की विधिवत् भुरूआत करने वाले पं. विष्णु दिगम्बर 'पलुस्कर से जब एक दिन एक व्यक्ति ने व्यंग्यपूर्वक पूछा था कि पलुस्कर जी आप इतने दिनों से संगीत की शिक्षा दे रहें हैं, अब तक कितने तानसेन बना पाये हैं आप?' तब पंडितजी बिना विचलित हुए भान्ति से बोले–'दूसरे तानसेन का निर्माण तो अब स्वयं तानसेन भी नहीं कर पायेंगे। क्योंकि, अब यह संभव नहीं है। लेकिन, इन विद्यालयों से सीखकर कई कानसेन जरूर तैयार हो गये हैं।'

इसी से मिलती–जुलती एक और घटना है। मेरे पिता गुरू पं. गामा महाराज जी से जब एक व्यक्ति ने एक दूसरे व्यक्ति का परिचय कराते हुए कहा कि– 'ये संगीत में एम.ए. हैं।' तो महाराज जी बोले, 'एम.ए. करने के बाद व्यक्ति इस योग्य बनता है, कि उसे सिखाना शुरू किया जाये।'

देखने में ये दोनों घटनायें अलग–अलग हैं, और इनका आपस

में कोई संबंध नहीं है। लेकिन, ऐसा है नहीं। दोनों विचार एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। दोनों का संकेत इसी ओर है कि संस्थायें कलाकार नहीं बनाती हैं। वे सिर्फ इसकी पृष्ठभूमि तैयार करती हैं। इसलिये इन संस्थाओं से प्रशिक्षित कोई संगीतार्थी जब किसी श्रेष्ठ गुरू की शरण में जाकर, गुरू शिष्य परम्परा के अन्तर्गत उनसे सीखना शुरू करता है, तो उसके आगे बढ़ने के द्वार स्वतः खुल जाते हैं।

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि जिस तरह यह सच है कि इन संस्थाओं से योग्य संगीतकार नहीं निकल पाते। उसी तरह यह भी सच है कि कोई भी बड़ा गुरू–उस्ताद बाहर के किसी संगीतार्थी को सरगम या पलटा से सिखाना भी नहीं शुरू करता है। उन्हे ऐसे योग्य शिष्य की तलाश होती है, जो उनकी बात को, उनके आशय को तुरंत पकड़ सके।

दरअसल, इन संस्थाओं का उद्देश्य भी संगीतकार तैयार करना नहीं है। और भायद हमें इनसे ऐसी आशा भी नहीं करनी चाहिये। आखिर किसी विश्वविद्यालय से हिन्दी या अंग्रेजी में एम. ए. और पी.एच.डी. करने वाले कितने लोग अचछे साहित्यकार बन जाते हैं? फिर हम इन्हीं से ऐसी आशा क्यों करें। लेकिन, अच्छी आशा करनी कोई बुरी बात भी नहीं है। हमारे देश के राजनेता पिछले 50 वर्षो से यह दावा कर रहे हैं कि अगले 10 वर्षो में गरीबी दूर हो जायेगी। और, मैं पिछले 50 वर्षो से उन दस वर्षो की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

इससे शायद सभी सहमत होंगे कि ये संस्थायें शिक्षा का आधार तो तैयार करती ही हैं। और, अगर आप इससे सहमत हैं तो फिर इससे भी सहमत हो जाइये कि आधार का कमजोर होना भुभ लक्षण नहीं है। और, हमारा यह आधार दिनों दिन कमजोर होता जा रहा है।

बीसवीं शताब्दी से ही यांत्रिक क्रान्ति की शुरूआत हो चुकी थी, और इक्कीसवीं भाताब्दी में तो इसने आँधी का रूप ले लिया है। मैं जब सीखता था तो बोलों को कॉपी में लिखने की भी अनुमति नहीं होती थी। कैसेट और टेपरेकार्डर तो बहुत दूर की बात है। जबकि, आज के युवा संगीतार्थी संगीत के लिये मोबाइल फोन, सी.डी., डी. वी.डी., आई. पॉट, एम.पी.3, कम्प्यूटर, वॉकमैन आदि की भी सुविधायें प्राप्त कर रहें हैं। वीडियो कान्फ्रेंसिंग के माध्यम से भी संगीत की शिक्षा दी ओर ली जा रही है। इन सुविधाओं का लाभ संगीतार्थियों तक कैसे पहुंचे। इस दिशा में इन संस्थाओं को सोचना होगा।

यह खुशी की बात है कि इस देश में कम संख्या में ही सही लेकिन राजकीय संगीत महाविद्यालय भी हैं और विश्वविद्यालय भी। लेकिन, खुशी की बात इतनी ही है। अगर इनकी कार्यप्रणाली स्वतंत्र चिकित्सा महाविद्यालय और अभियांत्रिकी महाविद्यालय की तरह हो जाये, और संगीत के अध्यापक–प्राध्यापक भी संगीत के संदर्भ में पुरातन और अधुनातन माध्यमों के माध्यम से इस दिशा में कार्य आरम्भ करें तो हमें भुभ और सुखद परिणाम देखने को मिलेंगें। आज जरूरत है संगीत में नयी सोच, नये दृष्टिकोण वाले लोगों की। लेकिन प्राचीन परम्पराओं को एकदम से छोड़ा भी नहीं जा सकता है। जरूरत है, दोनों के बीच एक सेतु बनाने की, दोनों के बीच तालमेन स्थापित करने की।

पं. विजयशंकर मिश्र

''शंकरा'' 705डी/21 सी, वार्ड नं.–3 महरौली,
नई दिल्ली–110030,